भारतीय समाज, शिक्षा और संस्कृति

युग युगीन सन्दर्भ

सम्पादक

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय समाज, शिक्षा और संस्कृति
युग युगीन सन्दर्भ

सम्पादक :

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा
Ph.D., D.Lit. (Sub.)
निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर–305001

प्रकाशक :
छवि पब्लिकेशन्स
अजमेर-305001
मो. 9660111549

संस्करण :
प्रथम 2024

ISBN : 978 - 81- 89435 - 68 - 4

मूल्य - 400/-

रचना -भारतीय समाज, शिक्षा और संस्कृति - युग युगीन सन्दर्भ

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

8

राजस्थान की चित्रकला

उमेश कुमार
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

कला शब्द संस्कृत की 'कल्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है— प्रेरित करना, सुन्दरता का निर्माण करना। कला मनुष्य की कल्पना, कौशल और सृजन शक्ति का सम्मिलित रूप है। अंग्रेजी का **'Art'** शब्द भी मानसिक व शारीरिक कौशल का ही अर्थ देता है। इस प्रकार कला वह है जो शिल्प, कौशल और सौन्दर्य से युक्त होकर मन को आनंद दे।

कला के प्रमुख प्रकार

भारत में प्राचीनकाल से कला को अनेक रूपों में विकसित किया गया, जिनमें राजस्थान क्षेत्र विशेष रूप से प्रसिद्ध रहा। कला को सामान्यत: चार प्रमुख वर्गों में रखा जाता है—

(1) वास्तुकला या स्थापत्य कला :- इसमें दुर्ग, महल, हवेलियाँ, मंदिर, स्तूप, बावड़ी, छतरियाँ आदि आते हैं। राजस्थान में कुम्भलगढ़, आमेर, चित्तौड़ दुर्ग, रणथम्भौर, जैसलमेर आदि स्थापत्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

(2) मूर्तिकला :- पत्थर, धातु, मरमर आदि से मूर्तियाँ बनाना। दिलवाड़ा के जैन मंदिर, रणकपुर, बैसलपुर जैसी जगहों पर अत्यंत सूक्ष्म मूर्तिकला देखने को मिलती है।

(3) चित्रकला :- दीवार, छत, पत्र, वस्त्र, लकड़ी, कागज आदि पर चित्र बनाना। राजस्थान में चित्रकला को विशेष सम्मान मिला। यहाँ की लघुचित्र परंपरा विश्वप्रसिद्ध है।

(4) मृद्भाण्ड कला :- मिट्टी से घड़ा, कलश, गागर, सुराही आदि वस्तुएँ बनाना। मोलेला, अलवर, जयपुर आदि क्षेत्र इसके लिए प्रसिद्ध रहे।

चित्रकला के छह अंग (षडंग)

महाराजा जयसिंह प्रथम के दरबारी विद्वान पंडित यशोधरा ने कामसूत्र की टीका जयमंगला में चित्रकला के छ: मुख्य अंग बताए। इन अंगों पर ही चित्रकला की श्रेष्ठता

निर्भर करती है—

(1) रूपभेद -रूपों की पहचान :- किसी भी वस्तु, मनुष्य या प्रकृति के असंख्य रूपों का ज्ञान। चित्रकार को रेखाओं, आकृतियों और भंगिमाओं का प्राकृतिक अंतर समझ आना चाहिए।

(2) प्रमाण-अनुपात और मापन :- चित्र में शरीर, वस्तु या दृश्य का सही संतुलन व नाप-तोल। उदाहरण: मानव शरीर में सिर, धड़, हाथ-पैर के अनुपात का उचित ज्ञान।

(3) भाव -भावनाओं का प्रदर्शन :- चित्र देखने वाले को चित्रकार की भावना महसूस हो। जैसे— वीरता, शोक, प्रेम, भक्ति, हास्य आदि भाव स्पष्ट झलके।

(4) लावण्य-योजनम्-सौंदर्य एवं कलात्मकता :- चित्र में आकर्षण और कोमलता का संयोजन। रंग, रेखा, प्रकाश, छाया आदि का सामंजस्य।

(5) सादृश्य समानता :- चित्र वास्तविक वस्तु या व्यक्ति से मिलता-जुलता हो। चित्र जितना वास्तविक के करीब होगा, उतनी अधिक कलात्मक गुणवत्ता मानी जाएगी।

(6) वर्णिका-भंग-रंग व तूलिका का कौशल :- रंगों की मिश्रण पद्धति, गाढ़ापन, पतलापन और तूलिका से रेखांकन की बारीकी। राजस्थान की लघुचित्र शैली में यह अंग विशेष रूप से विकसित हुआ।

राजस्थान में प्राचीन काल के शैलचित्र मुख्यतः चम्बल नदी क्षेत्र में पाए जाते हैं, जो मानव की प्रारम्भिक कला और जीवन शैली को दर्शाते हैं।

(1) अलनिया (कोटा) :- कोटा से 22 किमी दूर अलनिया नदी घाटी में स्थित शैलाश्रयों में लगभग 5000 ईसा पूर्व के गेरू रंग से बने चित्र मिले हैं। स्थानीय लोग इन्हें 'सीताजी के माँडणे' कहते हैं। इन चित्रों में हिरण, शेर, भालू, बकरी, गाय, जंगली सांड, तथा शिकार के दृश्य विशेष रूप से उकेरे गए हैं। मानवाकृतियों और समूह गतिविधियों का भी सुंदर चित्रण मिलता है, जो उस समय के शिकार-प्रधान जीवन का प्रमाण है।

(2) झालावाड़, दर्रा, गागरोन और भरतपुर क्षेत्र :- इन क्षेत्रों में भी प्राकृतिक शैलाश्रयों में प्रागैतिहासिक चित्र मिले हैं। यहाँ पशु आकृतियाँ, मानव आकृतियाँ, शिकार दृश्य, तथा कुछ ज्यामितीय आकृतियाँ पाई जाती हैं। विशेषकर दर्रा व गागरोन क्षेत्र के चित्र उस समय के वन्यजीवन और मानव के प्राकृतिक परिवेश को दर्शाते हैं।

राजस्थानी चित्रकला (1550-1900 ई.)

राजस्थान में चित्रकला परम्परा का प्रारम्भ 8वीं-10वीं शताब्दी में गुर्जरत्रा क्षेत्र में

मिला, जहाँ गुजराती, जैन और अपभ्रंश शैली विकसित हुई। इन्हीं परंपराओं से आगे चलकर राजस्थानी चित्रकला का जन्म हुआ।

15वीं शताब्दी भारतीय कला के सांस्कृतिक पुनर्जागरण काल के रूप में जानी जाती है। इस समय ईरानी शैली के संपर्क से भारतीय कलाकारों की तकनीक और रंग-प्रयोग में परिष्कार आया। राजस्थानी चित्रकला भी इससे प्रभावित हुई। इस शैली का प्रारम्भिक उदाहरण 1451 ई. का बसन्त विलास माना जाता है। इसके बाद महापुराण, मृगावती, लौर-चंदा, चौरपंचाशिका, गीत गोविन्द और रागमाला जैसे ग्रंथों के चित्रण में राजस्थानी शैली का क्रमिक विकास दिखाई देता है।

16वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस शैली में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। प्रारम्भ में गुजरात और अपभ्रंश शैली का प्रभाव था, परन्तु बाद में मुगल कला से समन्वय के कारण यह अधिक परिष्कृत हुई।

17वीं शताब्दी में मुगल-राजपूत संबंधों के कारण राजस्थानी चित्रकला पर मुगल प्रभाव बढ़ा। कार्ल खण्डालावाला ने 17वीं-18वीं शताब्दी को 'राजस्थानी चित्रकला का स्वर्णकाल कहा है। इस समय चित्रों में राजसी वैभव, अलंकरण, शिकार, राजदरबार, विलासिता आदि का विस्तृत चित्रण मिलता है।

19वीं शताब्दी के आरम्भ तक आते-आते चित्रों में भाव-अभिव्यक्ति कमजोर होने लगी और शैली में निर्जीवता एवं यांत्रिकता दिखाई देने लगी।

राजस्थानी चित्रकला की मुख्य विशेषताएँ

राजस्थानी चित्रकला सूक्ष्म रेखाओं, भावपूर्ण आकृतियों और गहरे रंगों की कला है। इसमें कम रेखाओं से भी अभिव्यक्ति को प्रभावशाली बनाया गया है। चित्रों में प्राय: एक-चश्म चेहरा, गतिशील रेखाएँ और स्पष्ट कथा-वस्तु दिखाई देती है।

यह शैली मूलत: भारतीय परम्परा पर आधारित रही और विषय-वस्तु तथा वातावरण के बीच सुन्दर संतुलन मिला। चित्रों में लाल व पीले रंगों का अधिक प्रयोग हुआ तथा स्वर्ण व रजत रंग से अलंकरण किया गया।

काव्य और भक्ति से प्रेरित यह शैली अन्तर्मन की भावनाओं, विशेषकर राधा-कृष्ण की लीलाओं, प्रेम, माधुर्य और भक्ति को चित्रित करती है। प्रकृति को भी मानवीय भाव देकर प्रस्तुत किया गया—सरोवर, उपवन, मेघ, पशु-पक्षी आदि का सजीव चित्रण मिलता है। राजस्थानी चित्रों में राजपूती जीवन, संस्कृति, नारी सौन्दर्य, दरबारी शान और जनजीवन की झलक भी दिखती है। कलाकार अक्सर पुश्तैनी रूप से इस कला को आगे बढ़ाते थे, इसलिए शैली में निरन्तरता और परम्परा का सौन्दर्य बना रहा।

राजस्थान की चित्रकला में षट् ऋतु, बारहमासा और रागमाला

(1) षट् ऋतु चित्रण :- राजस्थानी कलाकारों ने छह ऋतुओं—ग्रीष्म से बसंत तक के प्राकृतिक रूप, रंग-बदलाव, वर्षा, ठंड, हवा और उनमें नायक-नायिका के भावों को सुंदर ढंग से चित्रित किया। इन चित्रों में मौसम की विशेषताएँ और प्रेम का रस दोनों दिखाई देते थे। मेवाड़ में 1435 ई. में 'रसिकांतक' में इसका सुंदर उदाहरण मिलता है।

(2) बारहमासा चित्रण :- साल के बारह महीनों के आधार पर बनाए गए चित्र बारहमासा कहलाते हैं। इनमें प्रत्येक महीने के मौसम, खेत-खलिहान, बादल-बिजली, त्योहार, और नायिका की मनोदशाएँ मनोहारी रूप में चित्रित होती थीं। इसकी परम्परा 'चंदायन' से प्रारम्भ हुई और 17वीं शताब्दी में कोटा व आमेर में उत्कृष्ट चित्रावलियाँ बनीं।

(3) शैलीगत प्रभाव :- राजस्थानी शैली का विकास मुगल शैली के साथ-साथ हुआ। इसमें मुगल व ईरानी प्रभाव भी दिखाई देता है। राधा-कृष्ण को मुख्य नायक-नायिका बनाकर प्रेम और जीवन का दशज़्न प्रस्तुत किया गया।

(4) रागमाला चित्रण :- रागमाला चित्रण में विभिन्न राग-रागिनियों को मौसम, प्रकृति और भाव-रूप में चित्रित किया जाता था। यह संगीत, काव्य और चित्रकला का सुंदर संगम है। राजस्थान में आमेर, उदयपुर, बूंदी और मारवाड़ में 16वीं-17वीं शताब्दी में रागमाला चित्र खूब बनाए गए।

मेवाड़ शैली

मेवाड़ शैली राजस्थानी चित्रकला की सबसे प्राचीन और प्रभावशाली शैली मानी जाती है। इसका विकास अजन्ता, गुजरात-जैन परम्परा और स्थानीय परम्पराओं के मेल से हुआ। प्रारम्भिक चरण में श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र और कल्पसूत्र जैसे जैन ग्रन्थों में लाल-पीले रंग, बड़ी आँखें, सवाचश्म चेहरे और लम्बी उँगलियाँ इसकी पहचान बने।

16वीं-17वीं शताब्दी में यह शैली अपने परिपक्व रूप में पहुँची। इस समय चित्रों में भावपूर्ण चेहरे, मत्स्याकार आँखें, सुसज्जित वृक्ष-लताएँ और रंगों का संतुलित प्रयोग दिखता है। रागमाला, भागवत पुराण, रामायण, रसिकप्रिया और गीत-गोविन्द जैसे ग्रन्थों का सुंदर चित्रण हुआ। साहिबदीन और मनोहर इसके प्रमुख चित्रकार थे। जगतसिंह प्रथम और राजसिंह के काल को इसका स्वर्ण युग माना जाता है।

बाद में मुगल प्रभाव बढ़ने से शिकार, दरबार और जुलूस जैसे दृश्य बनने लगे। मेवाड़ की भित्ति चित्र परम्परा—चित्तौड़, कर्णविलास, नाथद्वारा और कुम्भलगढ़ भी विशेष उल्लेखनीय है।

उदयपुर शैली मेवाड़ की सौम्य और परिपक्व शाखा है, जिसमें लाल, पीला और नीला—विशेषत: हिंगुल—का प्रचुर प्रयोग मिलता है। प्रकृति, भवनों और श्रृंगार चित्रण में यह शैली उत्कृष्ट है।

कलीला-दमना (पंचतन्त्र का फारसी रूप) का चित्रांकन संग्रामसिंह द्वितीय के समय विकसित हुआ, जिसमें मुगल-ईरानी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

नाथद्वारा शैली

नाथद्वारा शैली मेवाड़ चित्रकला का महत्वपूर्ण केन्द्र है। औरंगजेब की नीतियों के कारण श्रीनाथजी की मूर्ति 1672 में सीहाड़ (नाथद्वारा) लाई गई, जिससे ब्रज शैली यहाँ स्थापित हुई और उदयपुर शैली के समन्वय से नाथद्वारा शैली विकसित हुई। इसकी चित्रकला को पिछवई कहा जाता है, जिसमें बड़े कपड़े या दीवार पर श्रीनाथजी और कृष्ण लीलाओं—यशोदा-नंद, बाल-ग्वाल, गोपियों, वल्लभ सम्प्रदाय के महंतों तथा त्योहार-विषयक दृश्य का सूक्ष्म चित्रण होता है।

श्री गोवर्धनजी के समय में यह शैली अत्यन्त समृद्ध हुई। प्रमुख चित्रकार थे— नरोत्तम नारायण, बी.जी. शर्मा, धनश्याम, विट्ठलदास, चम्पालाल, घासीराम, उदयराम, देवकृष्ण, हरदेव, हीरालाल और महिला कलाकार कमला व इलायची।

इस सम्प्रदाय में पूजा में चित्रों का विशेष महत्व रहा। मंदिर की धोली-पाटियों में कलाकार प्रतिदिन भोग से लेकर शयन झांकी तक के चित्र बनाते थे। नाथद्वारा शैली की प्रमुख विशेषता है— अत्यन्त सूक्ष्म, छोटी-छोटी वस्तुओं का विस्तृत अंकन।

बूंदी शैली

बूंदी शैली का उद्‌भव मेवाड़ के प्रभाव से हुआ और बाद में यह मुगल व दक्षिण भारतीय शैली के समन्वय से विशिष्ट रूप ले पाई। 1569 में सुर्जन सिंह के समय यह मुगल प्रभाव में आई, जबकि राव रतनसिंह, शत्रुशाल और भावसिंह ने कलाकारों को संरक्षण देकर इसे अत्यधिक विकसित किया। 17वीं-18वीं सदी में बूंदी में रागमाला, ऋतु-चित्रण, शिकार-दृश्य, अंत:पुर जीवन तथा कृष्ण-लीला के उत्कृष्ट चित्र निर्मित हुए। उम्मेद सिंह के समय कला का स्वर्णकाल माना जाता है।

इसके चित्रों में सूक्ष्म वनस्थली, हरे-भरे टीले, कमल-सरोज, बतखें, केल-कुंज और प्राकृतिक सुषमा प्रमुख रूप से दिखाई देती है। मानव आकृतियाँ गुलाबी रंग, लम्बी देह, नोकदार नाक, परवलाकार नेत्र, हल्की मुस्कान और मेहंदी-रँगी उंगलियों के साथ विशिष्ट रूप देती हैं। सोने-चाँदी के रंगों का सुंदर प्रयोग, सफेद भवनों पर स्वर्ण कलश, झरोखे व जालियाँ इसकी सजावटी भव्यता बढ़ाते हैं।

इसके विषय— नायिका भेद, ऋतुएँ, बारहमासा, राग-रागिनियाँ, कृष्ण लीला,

शिकार, सवारी और उत्सव अत्यंत लोकप्रिय रहे। बादलों को लाल-सुनहरी आभा देकर आकाश को विशिष्ट रूप दिया गया।

इसके प्रमुख कलाकार— सुरजन, अहमद, रामलाल, श्रीकृष्ण, डालू, भीखाराज।

इसके अन्य केन्द्र— कोटा व झालावाड़ (हाड़ौती शैली)।

कोटा शैली

कोटा शैली की शुरुआत 17वीं सदी में हुई और इसका स्वतंत्र विकास राजा रामसिंह (1661-1705) के काल में स्पष्ट दिखता है। प्रारम्भ में इस पर बूंदी शैली का प्रभाव था, परंतु बाद में यह अपनी विशिष्ट पहचान बनाने लगी। महाराव भीमसिंह प्रथम के समय वल्लभ सम्प्रदाय व कृष्ण भक्ति का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। दरबारी जुलूस, शिकार-दृश्य और राधा-कृष्ण विषय इसके प्रमुख आधार बने। कोटा के उत्कृष्ट भित्तिचित्र राजमहल, झाला की हवेली और देवता जी की हवेली में मिलते हैं।

इसकी मुख्य विशेषताएँ - स्त्री-चित्रण, पुरुष-चित्रण, रंगों में - हल्का हरा, पीला और नीला प्रमुख; लाल-नीले बॉर्डर और मुख्य चित्र के चारों ओर हरी रेखा, प्राकृतिक और शिकार दृश्य। इसके प्रमुख चित्रकार— लखीराम, रघुनाथ, गोविंदाम, नूर मोहम्मद।

किशनगढ़ शैली

किशनगढ़ शैली 17वीं-18वीं शताब्दी में विकसित राजस्थानी लघुचित्रों की अत्यंत सुंदर, भावप्रधान और सूक्ष्म शैली है। शुरुआती दौर में मुगल प्रभाव था, पर इसका वास्तविक रूप महाराजा रूपसिंह, मानसिंह, राजसिंह और खासकर सावंत सिंह 'नागरीदास' के समय परिपक्व हुआ। यह शैली राधा-कृष्ण की माधुयज़् भक्ति, कोमल रंगों, लंबी सुडौल आकृतियों और आध्यात्मिक भावों के लिए प्रसिद्ध है।

नागरीदास की प्रेयसी बणी-ठणी इस शैली की आदर्श नायिका बनी—लंबा मुख, नुकीली नाक, बड़ी कमल-नयन आँखें, पतली गर्दन और पारदर्शी ओढ़नी उसकी पहचान बनी। निहालचंद इस शैली के श्रेष्ठ चित्रकार थे, जिन्होंने आँखों की गहन, आध्यात्मिक अभिव्यक्ति को केंद्र में रखकर राधा-कृष्ण की अनेक लीलाएँ अंकित कीं।

चित्रों में कोमल, लचकदार आकृतियाँ, कृश एवं लंबा स्त्री-रूप, पारदर्शी परिधान, मोतियों के गहने और केश की लंबी लट प्रमुख विशेषताएँ हैं। प्रकृति में झीलें, कुंज, लताएँ और वृक्ष समूह अत्यंत सूक्ष्मता से चित्रित किए जाते थे।

ढूंढाड़/जयपुर चित्रशैली

ढूंढाड़ (अमेर-जयपुर) चित्रशैली पर प्रारम्भ में मुगल प्रभाव रहा, जिसमें शाही जीवन, सवारी, शिकार और धामिज़्क प्रसंगों का सुंदर अंकन मिलता है। आमेर काल में

चकदार जामा, अटपटी पगड़ी, भारी आभूषण और राग-रागिनियों से जुड़े चित्र प्रमुख थे।

सवाई जयसिंह प्रथम के समय जयपुर शैली का स्वतंत्र विकास हुआ। सूरतखाना व शिल्पकारखानों से कला को संरक्षण मिला। रसिकप्रिया, गीतगोविन्द, रागमाला, नवरस और व्यक्तिचित्रों की परंपरा मजबूत हुई। ईश्वरी सिंह और प्रतापसिंह के काल में शैली चरम पर पहुँची—गोल चेहरे, बड़ी आँखें, लाल हाशिए, पारदशीज़ वस्त्र और सजीव दरबारी दृश्य इसकी प्रमुख विशेषताएँ बनीं।

अंग्रेजी यथार्थवाद के प्रभाव से बाद में व्यक्तिचित्र और अधिक स्वाभाविक बने। साथ ही उद्यान, बादल, वृक्ष, पशु-युद्ध, पर्व-त्यौहार और शाही जुलूस जैसे विषयों का सूक्ष्म अंकन किया गया। उनियारा शैली, बूंदी प्रभाव के साथ, राधा-कृष्ण, रामायण, पशु-पक्षी और प्राकृतिक दृश्यों के लिए प्रसिद्ध रही।

शेखावाटी क्षेत्र के भित्तिचित्र

शेखावाटी में भित्तिचित्रों की परंपरा 15वीं सदी से शुरू हुई जब कायमखानी नवाबों ने किले और महल भित्तिचित्रों से सजाए। बाद में सेठों की हवेलियों में यह कला अत्यधिक विकसित हुई। चित्रों में तीज-त्योहार, होली-दीपावली, जुलूस, शिकार, नायक-नायिका भेद और प्रेम-कथाएँ प्रमुख विषय बने। लोककथाओं के पात्र—डूंगजी-जुझार जी, हीर-रांझा, लैला-मजनू अक्सर अंकित किए गए।

औद्योगिक प्रभाव के कारण रेलगाड़ी, मोटर, हवाई जहाज जैसे आधुनिक चित्र भी दीवारों पर दिखाई देते हैं। नीले-हरे रंग का अधिक प्रयोग, स्त्रियों की सर्पाकार जुल्फें, मांसल गला, पतली कटि और घेरदार घाघरा इस शैली की पहचान हैं। ऊँट और घोड़े के चित्र प्रमुखता से बनते थे।

मुख्य स्थान- सीकर (बियाणियों की हवेली), नवलगढ़ (चोखानी, पाटोदिया हवेलियाँ), फतेहपुर (सिंहानियों, गोयनका हवेलियाँ)।

अलवर चित्रशैली

अलवर शैली को जयपुर चित्रकला की उपशैली माना जाता है, जिसका उद्‌भव 1775 ई. में राव राजा प्रतापसिंह के समय स्वतंत्र रूप से हुआ। प्रतापसिंह के काल में जयपुर से आए चित्रकार शिवकुमार और डालूराम में से डालूराम यहीं राज्य कलाकार बने। उन्होंने भित्तिचित्रण में विशेष दक्षता दिखाई। राजगढ़ किले का शीशमहल उनके समय की अलवर शैली का उत्कृष्ट प्रारम्भिक उदाहरण है, जहाँ कृष्ण-राम चरित्र, दरबार दृश्य, नायिकाएँ, संगीत और सुंदर बेल-बूटों का सूक्ष्म अंकन मिलता है।

बख्तावर सिंह (1790-1814) के समय कला का अधिक विस्तार हुआ। वे

स्वयं कवि और कृष्ण–भक्त थे, इसलिए चित्रों में धार्मिक व ललित विषयों की प्रधानता रही। बलदेव (मुगल प्रभाव) और डालूराम (राजपूत शैली) प्रमुख चितेरे थे।

अलवर शैली का उत्कर्ष महाराजा विनयसिंह (1815–1857) के समय हुआ। वे बलदेव से चित्रकला सीखते थे और सचित्र ग्रंथों—रामायण, महाभारत, भागवत, गीतगोविंद, दुर्गासप्तशती आदि का व्यापक चित्रांकन कराया। गुलिस्तां ग्रंथ के चित्रांकन में भी बलदेव और गुलाम अली प्रमुख रहे।

बलवन्त सिंह (तिजारा) के काल में सालिगराम, छोटेलाल, नन्दराम जैसे कलाकार सक्रिय थे। रंगमहल के श्वेत–शीशों से जड़े कक्ष और सजावटी चित्र इस काल की सुंदरता दर्शाते हैं। शिवदान सिंह (1857–1874) के समय अलवर चित्रकला विलासी एवं कामकला प्रधान हो गई और कम्पनी शैली का प्रभाव बढ़ा। नेफरी वादन जैसे चित्र इस युग के प्रमुख उदाहरण हैं।

प्रमुख विशेषताएँ – सूक्ष्म भित्तिचित्र, चटक रंग, लयबद्ध डिजाइन, धार्मिक, दरबारी व ललित विषय, मुगल व राजपूत कलम का समन्वय, बाद में कम्पनी शैली का प्रभाव।

मारवाड़ चित्रकला शैली

मारवाड़ चित्रकला जैसलमेर, जोधपुर, पाली, नागौर व अजमेर क्षेत्रों में विकसित हुई। प्रारम्भिक चरण में अजंता परम्परा का प्रभाव दिखता है, जिसका उदाहरण मण्डोर द्वार के चित्र हैं। 7वीं शताब्दी के चित्रकार श्रृंगधर इस शैली के शुरुआती आधार माने जाते हैं।

इसका वास्तविक विकास 16वीं–17वीं शताब्दी में मालदेव, सूरसिंह, गजसिंह, जसवंतसिंह व अजीतसिंह के समय हुआ। जसवंतसिंह के काल में इसमें स्थानीय लोक तत्त्वों के साथ हल्का मुगल प्रभाव भी जुड़ गया। 18वीं शताब्दी में विजयसिंह ने वैष्णव व राधा–कृष्ण विषयों को बढ़ावा दिया। जैन मथैरन घराने ने लोककथाओं और वीर–प्रेम आख्यानों पर अनेक चित्र बनाए।

19वीं शताब्दी में मानसिंह के समय यह शैली चरम पर पहुँची—दरबारी दृश्य, व्यक्तिचित्र और नाथ संप्रदाय विषय विशेष रूप से उभरे। बाद में तख्तसिंह के काल में सुनहरे रंग और कम्पनी शैली का प्रभाव बढ़ा।

मुख्य विशेषताएँ-

विषय : गीत–गोविन्द, रसिकप्रिया, ढोला–मारू, लोककथाएँ, वीर–चरित, राग–रागिनियाँ, दरबारी व व्यक्तिचित्र।

स्त्री आकृतियाँ : भावपूर्ण, मोतियों के आभूषण, लहंगा–ओढ़नी, स्वर्ण अलंकरण।

पुरुष आकृतियाँ : तेजस्वी मुख, घनी मूँछ-दाढ़ी, शिखराकार पगड़ी, मुगल वेशभूषा।

रंग : लाल-पीला प्रमुख, काले मेघ, मरु-टीलों व आम्र वृक्षों का विशेष चित्रण।

पशु : ऊँट, घोड़ा, हिरण, श्वान, खंजन पक्षी।

प्रमुख कलाकार : वीरजी, नारायणदास, अमरदास भाटी, छज्जू भाटी, किशनदास, शिवदास, देवदास, जीतमल।

बीकानेर शैली

बीकानेर शैली का विकास राज्य स्थापना (1488 ई.) के बाद हुआ। प्रारम्भ में यह मारवाड़ शैली जैसी थी, पर उस्ता कलाकारों ने इसे स्वतंत्र पहचान दी। ये सूक्ष्म नक्काशी और महीन चित्रण में निपुण कलाकार थे जिन्होंने बीकानेर शैली की मजबूत आधारशिला रखी।

राजा रायसिंह और विशेष रूप से अनूपसिंह के समय इसमें मुगल, दक्षिण भारतीय और जैन कला का सुंदर सम्मिश्रण दिखाई देता है। चित्रों में रंग अत्यंत कोमल और गहराई वाले—पीला, लाल, हरा, फिरोजी व सलेटी—एक सौम्य, सूफियाना स्वर देते हैं। आकाश में सुनहरी छतें व बादल और धरातल पर मटमैले टीले इसकी विशिष्टता हैं।

आकृतियाँ अत्यंत सूक्ष्म, भावपूर्ण और संतुलित लोच वाली होती हैं। स्त्रियाँ एकहरी, मृगनयनी और कोमल देह वाली, जबकि पुरुष वीर, चौड़े माथे, नुकीली मूँछों और ऊँची पगड़ी के साथ चित्रित होते हैं। ऊँट, घोड़े, हिरण आदि का जीवंत अंकन लोकजीवन की सुंदरता को दर्शाते है।

अनूपसिंह के समय उस्ता कलाकारों ने धार्मिक और काव्य-आधारित उत्कृष्ट चित्र बनाए। बाद में गजसिंह के काल में शाह मुहम्मद जैसे कलाकारों ने रागमाला, शिकार और दरबारी दृश्यों का बड़ा संग्रह तैयार किया। यूरोपीय प्रभाव आने पर भी बीकानेर शैली की सूक्ष्मता व कोमलता बनी रही।

नागौर शैली

नागौर शैली का विकास 18वीं शताब्दी की शुरुआत में हुआ, जिसमें जोधपुर, बीकानेर, मुगल और दक्षिण शैली का मिश्रण दिखाई देता है। आस्र२तियाँ भारी देह वाली, गोल चेहरे, छोटी आँखें, ढलवाँ ललाट और सफेद मूँछों के साथ वृद्धावस्था की झुर्रियों को स्पष्ट रूप में दिखाती हैं। रंग संयोजन बुझे और कोमल होते हैं तथा वेशभूषा अक्सर पारदर्शी दिखाई देती है। नागौर किले के बादल महल और हवामहल के भित्तिचित्र इस शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, जिनमें सैनिक जुलूस, नृत्य करती परियाँ, नायिकाओं की मनोदशाएँ और जल-विहार के जीवन्त दृश्य अंकित हैं। इन चित्रों में

फारसी प्रभाव भी दिखाई देता है। नागौर परम्परा में व्यक्ति–चित्रण के साथ पटचित्र और पशु–पक्षी चित्रण की भी विशिष्ट परम्परा रही।

निष्कर्षत: राजस्थान की विभिन्न चित्रकला शैलियाँ—जैसे मेवाड़, मारवाड़, बूंदी–कोटा, जयपुर, किशनगढ़, बीकानेर, अजमेर तथा नाथद्वारा शैली मिलकर भारतीय लघुचित्र परंपरा को अत्यंत समृद्ध बनाती हैं। प्रत्येक शैली अपनी रंग–संरचना, सूक्ष्म रेखांकन, स्थानीय संस्कृति, दरबारी जीवन, धार्मिक भावनाओं तथा प्रकृति चित्रण की विशिष्टता के कारण अलग पहचान रखती है।

मेवाड़ की सरल और लोक–आधारित कला, मारवाड़ की वीर–रसीली भंगिमाएँ, बूंदी की प्राकृतिक पृष्ठभूमि, किशनगढ़ की आध्यात्मिक सौंदर्य–भावना, बीकानेर की सूक्ष्मता, जयपुर की शास्त्रीयता और नाथद्वारा की भक्ति–प्रधान पिछवाइयाँ—ये सभी मिलकर राजस्थान की चित्रकला को रंग, रेखा, भाव और भक्ति का अद्वितीय संगम बनाती हैं।

☆☆☆